International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.882, Volume 05, No. 02(III), April - June, 2023, pp. 182-189

गांधीवादी ट्रेड यूनियनों का पर्यावरण समस्याओं के समाधान में योगदान

डॉ. विजय सिंह*

सार

सिद्धान्तों से प्रकृति पर्यावरण रक्षण का कार्य स्वतः होता है। साथ ही अहिंसा के परिपालन से पंचभूत तत्वों एवं अन्य जीवों की रक्षा भी सहज ही हो जाती है। इस प्रकार जैन धर्म प्रकृति की रक्षा का धर्म है, जिसे एक–दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अपरिग्रह का सिद्धान्त अहिंसा का उच्छवास है, प्राण तत्व है। यही अहिंसा का सम्यग्दर्शन है। अपरिग्रह स्वर का उदात्तीकरण ही पर्यावरण प्रदूषण से ग्रसित पृथ्वी को एक नया जीवन दे सकेगा। जैन धर्म के पंचमहाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह हैं जिनमें अहिंसा को पर्यावरण संरक्षण में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जीवन से वैरभाव का त्याग और समता भाव का विकास ही सुरक्षा एवं संरक्षण का मुख्य आधार है और यह पंचमहाव्रतों द्वारा व्यावहारिक स्तर पर संभव है। आज औद्योगिक युग में पर्यावरण की सुरक्षा की ओर ट्रेड यूनियनं अपना विशेष योगदान दे रही हैं।जिनमें गांधीवादी तरीका प्रमुख है।

शब्दकोषः *त्रस, स्थावर, श्रावर, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचार्य, परस्परोग्रह, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, जुगुप्सा, श्रम सक्रियता, दासत्व भाव, मुद्रा स्फीति, फौरी माँग।*

प्रस्तावना

मनुष्य प्रकृति का अभिन्न अंग है और निरंतर उसके साथ अन्योन्यक्रिया करता रहता है। मनुष्य अपनी बुनियादी, आवश्यकताओं, जैसे भोजन, वस्त्र, छत, प्रकृति के प्रतिकूल प्रभावों से रक्षा, आदि की तुष्टि किये बिना जीवित नहीं रह सकता। किन्तु प्रकृति मानव को उनके जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुएँ तैयार रूप में नहीं दे सकती। उन्हें पाने के लिए उन्हें तैयार करना पड़ता है। इसके लिए काम, यानी श्रम करना आवश्यक है। इन वस्तओं को पैदा करने के वास्ते श्रम करते हुए मनुष्य प्रकृति के सीधे संपर्क में आता है। यहां तक कि फलों को जिन्हें प्रकृति मनुष्य को 'तैयार' रूप में देती है, बटोरना, शिकार और मछली पकड़ना भी मनुष्य और प्रकृति के बीच परस्पर विनिमय की प्रकृति है।

अपनी श्रम सक्रियता के विकास के दौरान मनुष्य प्रकृति से अलग हो गया। श्रम के ऐतिहासिक महत्व का फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपने लेख 'वानर के नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका' (1876) में उत्कृष्ट विश्लेषण किया हैं उन्होंने बताया कि कैसे मानव श्रम, श्रम सक्रियता एवं अस्तित्व के साधनों और परिस्थितियों के निर्माण के विकास के साथ आदिम मानव समाज का विकास होता है। इसीलिए श्रम को मनुष्य की बुनियादी जैव आवश्यकताओं में शामिल किया जाता है। मानव समाज की उत्पत्ति लोगों की श्रम सक्रियता एवं भौतिक उत्पादन के विकास के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

* प्राचार्य, कला भारती कन्या पी.जी. कॉलेज नदबई, भरतपुर, राजस्थान।

अब यह प्रश्न उठता है कि आखिर 'श्रम' हैं क्या?

श्रम मनुष्य की ऐसी सोद्देश्य, कार्यसाधक सक्रियता है, जिसकी बदौलत वह प्रकृति की वस्तुओं को अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि करने के योग्य बनाता है। हर तरह के श्रम में मनुष्य की शारीरिक–तंत्रिकीय और बौद्धिक ऊर्जा खर्च होती है। श्रम का परिणाम उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन है। किंतु मानव के जीवन में श्रम की भूमिका यहीं तक सीमित नहीं है कि वह मनुष्य के अस्तित्व तथा विकास की अनिवार्य शर्त होता है या उसकी शक्ति तथा समृद्धि की वृद्धि का स्रोत बनता है। अपने श्रम से प्रकृति पर असर डालते हुए मनुष्य अपने आपको भी बदलता है, भौतिक तथा अस्तित्व संस्कृति को उत्पन्न करता हैं और अपनी शारीरिक तथा आत्मिक क्षमताओं को बढ़ाता है।

श्रम शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, व्यापक अर्थ में सभी प्रकार के कार्य स्तरीय भेदभाव के बिना श्रमिकों के पारिश्रमिक और प्रतिफल की प्राप्तियाँ इसमें शामिल हैं। संकुचित अर्थ में यह उन व्यक्तियों तक सीमित हैं जो किसी आदेश के अधीन कार्य करते हैं। आधुनिक युग में श्रम के बदले में पारिश्रमिक मिलता है लेकिन प्राचीनकाल में जमींदारों तथा उच्च वर्गीय लोगों के यहां श्रमिक अनिवार्यतः दासत्व भाव से काम किया करते थे।

महात्मा गांधी वर्णाश्रम के प्राचीन भारतीय आदर्श को मानते थे किन्तु आलसी बुद्धिजीवियों मध्यमवर्गीय और आरामपसन्द अमीरों के जीवन को देखकर वह यह अनभव करते थे कि यदि शरीर श्रम समाज के किसी वर्ग विशेष पर ही थोप दिया जायेगा तो फिर उत्पादक श्रम के प्रति समाज में एक प्रकार का विकर्षण और घृणा का भाव पैदा हो जायेगा।

गांधी के 'कायिक श्रम' का विचार अपने आप में मौलिक नहीं है। प्रारम्भ में टॉलस्टॉय ने यह क्रांतिकारी विचार प्रतिपादित किया था। कायिक श्रम मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य माना जाना चाहिए। हालांकि यह मूल खोज रूसी लेख 'बर्नोह' की है। रस्किन ने भी 'अन्टू दिस लास्ट' नामक पुस्तक में यह विचार रखकर लोगों को चौकन्ना कर दिया कि कायिक श्रम करने वाले का जीवन ही सर्वश्रेष्ठ जीवन है।

उपरोक्त तथ्य को गांधी ने स्पष्ट रूप से मंगल प्रभात में लिखा है उनके अनुसार 'रोटी के लिए प्रत्येक मनुष्य को श्रम करना चाहिए। यह ईश्वरीय विधान है।' रोटी के लिए श्रम के नियम की पवित्रता के विचार को गांधी ने भगवद् गीता के तीसरे अध्याय में खोजा। गांधी की मान्यता थी कि ''बुद्धिपूर्वक किया गया श्रम समाज सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। यहां श्रम के साथ 'बुद्धिपूर्वक किया हुआ' विशेषण यह व्यक्त करने के लिए जोड़ा गया हैं कि किए गये शारीरिक श्रम के पीछे समाज सेवा का निश्चित उद्देश्य हो तभी उसे समाज सेवा का स्तर मिल सकता है। ऐसा न हो तब तो कहा जायेगा कि हर एक मजदूर समाज सेवा करता ही है। वैसे एक अर्थ में यह कथन सही भी है लेकिन यहां उससे कुछ अभीष्ठ अर्थ हैं, "जो आदमी सब लोगों के लिए सामान्य कल्याण के लिए परिश्रम करता है, वह जरूर समाज की सेवा करता हैं और उसकी आवश्यकताएं पूरी होनी ही चाहिए इसलिए ऐसा शारीरिक श्रम समाज सेवा से भिन्न नहीं है।"

ट्रेड यूनियन के सिद्धांतों का वर्गीकरण

व्यापार संघ के पांच प्रकार के सिद्धांत इस प्रकार हैं – 1. क्रांतिकारी सिद्धांत, 2. विकासवादी सिद्धांत, 3. औद्योगिक न्यायशास्त्र का सिद्धांत, 4. विद्रोह सिद्धांत, 5. गांधीवादी दृष्टिकोण।

ट्रेड यूनियनों की एक क्रॉस–कंट्री परीक्षा में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर ट्रेड यूनियनों के विकास और विकास को प्रभावित करने वाली विभिन्न विचारधाराओं का पता चलता हैं। यहीं कारण है कि ट्रेड यूनियनों के उद्देश्य और उनके स्थान पर अलग–अलग विचारकों द्वारा अलग–अलग जोर दिया गया है।

ट्रेड यूनियनों के विभिन्न दृष्टिकोणों/सिद्धांतों को निम्नलिखित पांच प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता हैं –

- **क्रांतिकारी सिद्धांतः** ट्रेड यूनियन का क्रांतिकारी दृष्टिकोण/सिद्धांत कार्ल मार्क्स द्वारा विकसित किया गया हैं "इस सिद्धांत को" वर्ग युद्ध और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता है। मार्क्स के अनुसार, ट्रेड यूनियन, मजदूर वर्गों की सेनाओं को व्यवस्थित करने के लिए स्थान प्रदान करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण आयोजन केन्द्र था। ट्रेड यूनियन, मार्क्स के लिए, पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने के साधन है।

इस प्रकार, सर्वहारा श्रमिकों और पूंजीवादी व्यापारियों के बीच वर्ग संघर्ष के प्रमुख साधन है। मार्क्स ने वकालत की कि मजदूर वर्ग को अपने क्रांतिकारी कार्यक्रम से खुद को नहीं हटाना चाहिए क्योंकि यह केवल श्रम संघर्ष है जो पूंजीवाद को खत्म कर सकता है। मार्क्स के लिए, श्रमिकों की मुक्ति में पूंजीवाद का उन्मूलन शामिल हैं।

- **विकासवादी सिद्धांतः** इस सिद्धांत को 'औद्योगिक लोकतंत्र के सिद्धांत' के रूप में भी जाना जाता है, जिसे सिडनी और बीट्राइस वेबस ने लिखा था। वेब्स के लिए, व्यापार संघवाद औद्योगिक क्षेत्र में लोकतंत्र के सिद्धांत का विस्तार है। दूसरे शब्दों में, ट्रेड यूनियनवाद पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने का साधन नहीं है, बल्कि श्रम और पूंजी की सौदेबाजी की शक्ति को बराबर करने का साधन हैं। व्यापार संघवाद एक ऐसा साधन प्रदान करता है जिसके द्वारा श्रमिक एक ओर प्रबंधकीय तानाशाही को दूर करते हैं और दूसरी ओर, उन परिस्थितियों के निर्धारण में अपनी आवाज को व्यक्त करते हैं, जिनके लिए उन्हें काम करना है।
- **औद्योगिक न्यायशास्त्र का सिद्धांतः** एसएच स्लिचर के अनुसार, "औद्योगिक न्यायशास्त्र के सिद्धांत" के प्रस्तावक, श्रमिक व्यक्तिगत रूप से अपने हितों की रक्षा के लिए नियोक्ताओं के साथ सौदेबाजी करने में विफल होते हैं। उनके विचार में, ट्रेड यूनियनवाद काम में उनकी रक्षा के लिए श्रमिकों के लिए एक साधन के रूप में कार्य करता था। ट्रेड यूनियनवाद का ऐसा दृष्टिकोण, स्लीकर ने 'औद्योगिक न्यायशास्त्र की एक प्रणाली" के रूप में कहा।
- **विद्रोह सिद्धांतः** फ्रेंक टैनैनबाम, "विद्रोह सिद्धांत" के प्रस्तावक, ट्रेड यूनियनवाद मशीनीकरण के विकास में एक सहज परिणाम है। उनका मानना है कि मशीनों के इस्तेमाल से श्रमिकों का शोषण होता है। इस प्रकार, मशीन उपकरण और श्रम आंदोलन है, अर्थात्, ट्रेड यूनियनवाद का परिणाम है। दूसरे शब्दों में, व्यापार संघवाद उद्यम में श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए औद्योगिक समाज के मशीनीकरण के खिलाफ एक विद्रोह दृष्टिकोण है।
- **गांधीवादी दृष्टिकोणः** व्यापार संघवाद का गांधीवादी दृष्टिकोण 'वर्ग संघर्ष और संघर्ष के बजाय वर्ग सहयोग' पर आधारित हैं। मजदूरों के बीच पूंजीवादी से मजदूर हिस्सेदारी लेने का विचार, मजदूरों में सुधार और आत्म–चेतना के कारण, ट्रेड यूनियनवाद का उदय हुआ। इस प्रकार व्यापार संघवाद का गांधीवादी दृष्टिकोण केवल भौतिक पहलू से ही नहीं बल्कि नैतिक और बौद्धिक पहलुओं से भी संबंधित है।

गांधी ने जोर दिया कि व्यापार संघवाद का प्रत्यक्ष उद्देश्य अंतिम डिग्री राजनीतिक में नहीं है। इसके बजाय, इसका सीधा उद्देश्य आंतरिक सुधार है और आंतरिक शक्ति का विकास भी है। इसके अलावा, व्यापार संघवाद, गांधीवादी दृष्टिकोण के अनुसार, पूंजीवाद विरोधी नहीं है जैसा कि आमतौर पर देखा जाता है।

पर्यावरण संतुलन के उपायों की उद्घोषणा आज से करोड़ों वर्ष पूर्व युग प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने की थी। इन्होंने यह संदेश दिया कि पर्यावरण संतुलन में ही प्राणी का भौतिक और आध्यात्मिक विकास सम्भव है। आज विश्वभर में विपुल धन खर्च करके बड़े–बड़े वैज्ञानिक पर्यावरण प्रदूषण की रोकथाम और शुद्ध पर्यावरण संरक्षण के लिए समर्पित एवं संगठित हो रहे हैं। 'स्टॉकहोम' तथा 'रियो डि–जनेरियो' सम्मेलन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय आयोजनों, सेमिनारों, संगोष्ठियों के द्वारा पर्यावरण संरक्षण के प्रति जन–जागरण के प्रयास हो रहे है; परन्तु जो भी किंचित प्रयास किये जा रहे हैं उनमें यदि जैन दर्शन के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप से जोड़ दिया जाए तो शीघ्र ही सार्थक परिणाम आ सकते हैं।

संसारिणास्त्रसस्थावराः

पृथ्वीव्यम्बुवस्पतयः स्थावराः।

अर्थात् जीव दो प्रकार के होते है–त्रस और स्थावर। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति ये पाँच स्थावर जीव हैं। यह समस्त संसार विभिन्न जीवों से ओत–प्रोत है। जैन आचार–मीमांसा के अनुसार जीव की दो मूल प्रवृत्तियाँ रही हैं–एक स्वभाव रूप और दूसरा विभाव रूप। स्वभाव रूप प्रवृत्ति पर्यावरण संतुलन है और विभाव रूप प्रवृत्ति पर्यावरण प्रदूषण है। इसी अवधारणा पर आधारित तीर्थंकर ऋषभदेव ने अहिंसा, दया, करूणा और सहिष्णुता से ओत–प्रोत प्राणी मात्र के हित और सुख की व्यवस्था दी, जो निरन्तर प्रवाहमान रही। 24वें तीर्थंकर महावीर ने इसी व्यवस्था को 'जीओ और जीने दो' का संदेश देकर आगे बढ़ायां पश्चात् केवली, श्रुत केवली और आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित यह व्यवस्था हमें प्राप्त हुई है, जो वर्तमान में अहिंसा और विश्व शान्ति के संदेश का शंखनाद कर पर्यावरण संतुलन के प्रति जन–चेतना जाग्रत कर रही है।

पर्यावरणीय समस्याओं में मानव–प्रवृत्तिगत दोष विद्यमान है और उनका परिष्कार ही इस माधान का सफल–सूत्र है। पर्यावरण का अत्यन्त प्रभावशाली अंग होने के कारण मानव के विचार एवं व्यवहार का पर्यावरण के समस्त तत्वों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है, अतः मानव की पर्यावरण–चेतना का जाग्रत रहना अत्यावश्यक है जिससे वह अपने क्रियाकलापों के दूरगामी परिणामों का पूर्वज्ञान प्राप्त कर सकें और पर्यावरण संतुलन के लिए अपना दायित्व निभा सकें।

चेतना की मूर्च्छा या मोहावस्था ही परिग्रह है। परिग्रह नितान्त अविवेकपूर्ण अवस्था है जिसके रहते मनुष्य को उचित मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना तो दूर रहा, उसे उचित–अनुचित का बोध कराना भी कठिन हो जाता है। वस्तुतः परिग्रह हिंसा, असत्य, स्तेय, मद, मोह, लोभ इत्यादि पापवृत्तियों की जड़ है–

संगनिमित्तं मारइ भणई अलीअं करेइ चोरिक्कं।

सेवइ मेहुण–मुच्छं अप्परिमाणं कुणई जीवो।

अर्थात् जीव परिग्रह का आकांक्षी बनकर हिंसाएँ करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, सुख–भोग में रत रहता है। अन्धी ममता से ही उसके इन्द्रियगण मूर्च्छित रहते हैं। विवेक त्याग कर वह स्वार्थ सिद्धि को ही सर्वप्रमुख मानता है। दया–उदारता–सहानुभूति–सदाचरण–परोपकार–प्रभृति उदात्त आदर्श आदि मूल्य एवं आदर्श वर्तमान युग में परिग्रह वृत्ति के कारण विलुप्त हो रहे है। पर्यावरणीय समस्या के समाधान के लिए पर्यावरण–चेतना के अवरोधक के रूप में ''परिग्रह'' का निवारण ही एकमात्र उपाय है।

पर्यावरण–संतुलन स्थापित करने के लिए औद्योगीकरण, प्रौद्योगिकी एवं भौतिक प्रगति का पूर्ण–निषेध अव्यावहारिक ही नहीं, असम्भव भी है। आज अभीष्ट यही है कि लोभ और असंयम को नियंत्रित करके विज्ञान प्राकृतिक व्यवस्था में न्यूनतम व्यवधान और अधिकतम सामंजस्य के लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हो। इस दिशा में 'अपरिग्रह' को ही अपनाना होगा।

जैन यति या जैन अनागार जो अपने शरीर से भी निसंग है, ममत्वहीन है, यह सर्दी–गर्मी वर्षा में कभी पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने या बनवाने की जरूरत महसूस नहीं करता, बल्कि शरीर के प्रति ममत्वहीनता के कारण पर्यावरण से अनुकूलन कर लेता है। यह किसी प्रकार की विषयाभिलाषा का आन्तरिक परिग्रह भी नहीं रखता। वह अपने पास एक मयूरपिच्छी व एक कमण्डलु रखता है, जिसका अपना कोई स्वामित्व नहीं होता है। जो अपने भोजन की व्यवस्था भी खुद नहीं रखता ऐसा अपरिग्रही अनगार पर्यावरण पोषकता की जीवित मिसाल है।

मनुष्य को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करना ही इस पर्यावरण असंतुलन का मूल है अर्थात् वे अतिचार या अधिक दोहन या अनियोजित दोहन इसका मुख्य कारण रहा है। विश्व जड़–चेतन से निर्मित है। छोटे से छोटे जीव का भी इस संतुलन में योगदान है। समस्त जगत् प्राणी समुदाय है और 'पारस्परिकता' इसका आधार है। कोई छोटा बड़ा नहीं, स्वामी दास नहीं है। भोज्य श्रृंखला (फूड चेन) में आयी विकृति इसका उदाहरण है। इसी प्रकार आमूलचूल परिवर्तनवादी अभी शैशव के पालने में ही है। वे जिस सर्वोदय सोच से शुरू हो रहे है उससे

जुड़ा दर्शन व आचरण अपने विशुद्ध प्रतिमानों सहित जैन अनगार चर्या में पहले से ही उपलब्ध है। आज की आवश्यकता है कि विश्लेषण और सैद्धान्तिक चर्चाओं में समय व्यर्थ न करके महाव्रतों एवं जैनधर्म में उल्लेखित नियमों के व्यावहारिक अनुपालन पर अत्यधिक जोर दिया जाये।

- **पंच महाव्रत और पर्यावरण**

जैन धर्म के पंचमहाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह हैं जिनमें अहिंसा को पर्यावरण संरक्षण में सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जीवन से वैरभाव का त्याग और समता भाव का विकास ही सुरक्षा एवं संरक्षण का मुख्य आधार है और यह पंचमहाव्रतों द्वारा व्यावहारिक स्तर पर संभव है।

- **अहिंसा और पर्यावरण** – किसी भी प्राणी को नहीं मारना, नहीं सताना ही अहिंसा है। अहिंसा को सभी सद्गुणों में महत्त्वपूर्ण एवं सभी धर्मों में सर्वोपरि माना गया है। इसलिए 'अहिंसा परमोधर्मः' कहा गया है। जैन दर्शन और पतंजलि के अनुसार 'अहिंसा' का अर्थ है–किसी भी प्रकार से किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना। शाब्दिक रूप में 'अहिंसा' का अर्थ होता है, किसी प्राणी की हिंसा या हत्या नहीं करना। नीतिशास्त्र के अनुसार, यह प्राणियों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

अहिंसा का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है–निषेधात्मक और भावात्मक रूप में। निषेधात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है–किसी भी प्राणी की हत्या न करना। साधारणतः दैनिक जीवन में किसी जीव के प्राण लेने के अर्थ में ही हिंसा का प्रयोग होता है और ऐसी प्रवृत्ति से बचने को अहिंसा कहा जाता है। भावात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ होता है–आत्म संयम, त्याग, दयालुता, सहानुभूति और सभी प्राणियों के प्रति मित्रता की भावना।

बौद्ध–दर्शन, जैन–दर्शन तथा मनु आदि ने अहिंसा का उपर्युक्त अर्थों में प्रयोग किया है। परन्तु जैन मतावलम्बियों ने इसके पालन पर जितना बल दिया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जैन परम्परा में समस्त प्राणियों के प्रति मन, वचन और कर्म–तीनों ही रूप में अहिंसा व्रत का पालन करने का आदेश दिया गया है।

पर्यावरण संरक्षण का एक और मूल सूत्र है– 'अहिंसा परमोधर्मः'। यह सिद्धान्त भारतीय संस्कृति का और विशेषतः श्रमण–संस्कृति का मूल मंत्र है। जहाँ इस पर गहराई से चिन्तन और अनुपालन किया गया है। वहीं जीवरक्षा और सर्वमित्रभाव पर ध्यान दिया गया है। प्राणी मात्र, जिसमें वन वृक्षादि भी सम्मिलित है, के प्रति शारीरिक, मानसिक और वाचिक दुःख देना भी अपेक्षित नहीं है।

जैन परम्परा में हरितकाय वनस्पति को दो प्रमुख भागों में विभक्त किया गया है–प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक वनस्पति उसे कहते है जिसमें एक देह में अनन्तानन्त जीवों का वास होता है। प्रायः ऐसी वनस्पति धरती के भीतर पनपती हैं जिन्हें जमीकन्द भी कहा जाता है। जैसे मूली, गाजर आदि। ऐसी वनस्पतियों को अभक्ष्य माना गया है। अतः वे त्याज्य है। हरितकाय वनस्पति का उपयोग कम से कम करने हेतु व्रत आदि नियमों का प्रावधान किया गया है। प्रत्येक महीने की दो पंचमी, दो अष्टमी और दो चतुर्दशी को हरितकाय वनस्पति का उपयोग किसी भी गृहस्थ को करने की आज्ञा नहीं है। इसके अलावा कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ़ की अष्टाहिकाओं और भाद्रपद मास के पर्यूषण, दशलक्षण व अन्य पर्वों पर हरितकाय वनस्पति का सेवन निषेध है। इस नियम की पालना में वर्ष में कम से कम सौ दिन वनस्पति का त्याग पर्यावरण की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया है।

- **सत्य और पर्यावरण –** सत्य बोलना हित–मित प्रिय बोलना, सत् को सत् तथा असत् को असत् समझना ही सत्य है। वेदों में सत्य के विषय में कहा गया है कि सत्य के द्वारा आकाश, पृथ्वी, वायु और भौतिक तत्वों का धारण होता है। सत्य का दो अर्थों में प्रयोग किया जाता रहा है–तात्विक अर्थ में तथा नैतिक अर्थ में। तात्विक रूप में सत्य से तात्पर्य है–चरम सत्ता का ज्ञान। नैतिक रूप में सत्य का अर्थ होता है–सत्य का आचरण, अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में वर्णन करना। इस संदर्भ में सत्यवादिता के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। जैनों के अनुसार यथार्थ के अतिरिक्त सत्य को प्रिय भी होना चाहिए।

- **अस्तेय और पर्यावरण –** चोरी का भाव ही नहीं रखना अचौर्यव्रमत या अस्तेय है। अस्तेय का अर्थ है चोरी नहीं करना अर्थात् दूसरे की संपत्ति का अवैधानिक अपहरण नहीं करना। भारतीय नीतिशास्त्र में बताए गए मानव जीवन के चार लक्ष्य (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में से अर्थ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसी अर्थ में धन–सम्पत्ति को भी पुरूषार्थ कहा जाता है। जैनों ने भी जीवन–रक्षा के लिए अर्थ को बड़ा सहायक बतलाया है। दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करना स्तेय या चोरी ही नहीं है, बल्कि एक तरह की हिंसा भी है। अतः अन्यायपूर्वक अपहरण नहीं करना ही अस्तेय–व्रत है।
- **अपरिग्रह और पर्यावरण –** अपरिग्रह जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण व्रत है जो पर्यावरण की रक्षा में बहुत सहायक है। मनुष्य की भोग–विलास की इच्छाओं के चलते–बढ़ते हुये उपभोग को रोकने के लिए जीवन–यापन योग्य आवश्यकताओं की पूर्ति का सिद्धान्त ही अपरिग्रह है। इसमें मनुष्य आवश्यकतानुसार ही पंचतत्वों से जल, वायु, वनस्पति, ऊर्जा, खनिज, लवण आदि का उपयोग करता है। आवश्यकताओं को कम करने के लिए सप्ताह के सात दिनों में सात रसों का अलग–अलग त्याग, महीने में चार दिन दो अष्टमी, दो चतुर्दशी के दिन हरी वनस्पतियों के त्याग का विधान है।

जिस प्रकार निश्चय का कल्याण के साथ सीधा संबंध है, उसी प्रकार व्यवहार का परम्परा से संबंध है। निश्चय स्थायी है, व्यवहार परिवर्तनीय है। निश्चय और व्यवहार की तरफ इस तरह संकेत करने से हमें उसका कुछ–कुछ भान होने लगता है। इसी विचारधारा के अनुसार हमें अपरिग्रह के प्रत्येक अंग का निश्चय और व्यवहार रूप समझना चाहिए।

परिग्रह का अर्थ है–स्व और पर के भेदज्ञान के बिना पर वस्तुओं को स्व मानकर आसक्ति का होना, राग का होना। निश्चय नये स्व का अर्थ आत्मा है। आत्म के गुण, गुणानुसार क्रिया, आत्मा के असंख्य प्रदेश स्व है। इसके अतिरिक्त यह शरीर और अन्य पदार्थों का एक भी कण स्व नहीं है। अतः शरीर में राग भाव तथा संसार के पदार्थों के एक कण में भी ममत्व भाव, कर्त्ता भाव, स्वामी भाव मिथ्या है तथा यह मिथ्यात्व ही परिग्रह है। इसके विपरीत परिग्रह के भावों का अभाव अपरिग्रह है। अपरिग्रह को समझने के लिए निश्चय और व्यवहार दो ऐसे भेद किये जा सकते हैं जिसमें निश्चय मूल धर्म है और व्यवहार या तो उसका फल है या साधन।

पंडित आशाधर आगे कहते हैं कि बाह्य परिग्रह का त्याग ही काफी नहीं है, मुनि के लिए आन्तरिक परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है, क्योंकि केंचुली छोड़ देने से विषधर गुणी नहीं हो जाता। मूल परिग्रह तो आन्तरिक भाव अर्थात् ममत्व भाव से जुड़ा हुआ है जो मनुष्य ममत्वभाव रखता है वह अहिंसादि गुणों का पात्र नहीं होता। अतः अनगार को मोक्ष प्राप्ति के लिये आन्तरिक व बाह्य परिग्रहों का त्याग अनुशासित है जो इस प्रकार है–

- **आभ्यन्तर परिग्रह –** राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा।
- **बाह्य परिग्रह –** धन, धान्य, भूमि, मकान, चाँदी, सोना, द्विपद, चतुष्पद, कुप्यादि।

वस्तुतः यह पाँचवाँ व्रत कसौटी है। यदि श्रावक अहिंसा आदि चार व्रतों में प्रामाणिक रहा है तो वह परिग्रही हो नहीं सकता और यदि वह परिग्रही है तो अहिंसा आदि व्रतों का पालन अव्यवहारिक प्रतीत होता है। पर पदार्थों में ममत्व भाव नहीं रखना अपरिग्रह है। अपरिग्रह का शाब्दिक अर्थ होता है धन–संग्रह करने की प्रवृत्ति का अभाव। मनुष्य को जीवन–यापन के लिए जितनी संपत्ति की आवश्यकता है, उससे अधिक संग्रह के लिए प्रयास नहीं करना एवं ऐसी इच्छा से निवृत्ति की भावना को 'अपरिग्रह' कहते हैं। जहाँ पर अस्तेय दूसरों की वस्तु या सम्पत्ति न लेना या लाभ नहीं करने पर जोर देता है, वहीं अपरिग्रह में अपनी वस्तुओं के प्रति भी उदासीनता अथवा अनासक्ति पर जोर दिया गया है।

- **ब्रह्मचर्य और पर्यावरण –** शील और सदाचार का पालन करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है–काम–वासनाओं का पूरी तरह परित्याग। सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण नियंत्रण रखने को ही ब्रह्मचर्य–व्रत कहा गया है। जैन धर्म में ब्रह्मचर्य व्रत का मन, वचन और कर्म से पालन करने पर बल दिया गया है।

प्राकृतिक शोषण में जनसंख्या वृद्धि की महत्ती भूमिका है। जनसंख्या नियंत्रण हेतु ब्रह्मचर्य व्रत जीवन को मर्यादित एवं मैथुन सेवन को नियंत्रित करता है। चोरी करना, हिंसा करना, झूठ बोलना आदि संगत से आते है लेकिन काम विकार तो युवावस्था आते ही जाग्रत हो जाता है। जो जन्म से ही अच्छी संगत में रहते हैं वे भी इस विकार से बच नहीं पाते। ब्रह्मचर्य के पालन न करने से आबादी बढ़ती है। आबादी बढ़ने के साथ ही उपभोग बढ़ता है, उपभोग बढ़ने से आवश्यकता बढ़ती है, जिससे संसाधनों का अधिक दोहन होता है। यहाँ माँग एवं आपूर्ति का सिद्धान्त लागू होता है। माँग की अपेक्षा आपूर्ति नहीं होने से पर्यावरण संतुलन बिगड़ता है जैसे अधिक पानी के उपयोग से पानी का स्तर जमीन में कम होता जा रहा है, अधिक लकड़ी के उपयोग से वृक्षों के तैयार होने एवं उन्हें उपयोग में लेने आने की अवस्था से पूर्व ही काट लिया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की पालना नहीं करने से वीतरागता का भाव नहीं होता एवं मनुष्य में सामाजिक अपराध जैसे बलात्कार, अपहरण, चोरी, हत्या आदि प्रवृत्तियों का जन्म होने लगता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रत भौतिक एवं आध्यात्मिक पर्यावरण की शुद्धि में सार्थक है। अहिंसा और सत्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में सत्य व्रत की परिभाषा इस प्रकार है–

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यापि विपदे।

अर्थात् हित–मित, प्रिय और हिंसा रहित वचन बोलना चाहिए। सत्य, त्याग से प्राणी हिंसक हो सकता है। असत्य भाषण से स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध, वैर, वैमनस्य आदि दुर्भावनाएँ भी जन्म लेती है। सत्य से आत्म शुद्धि होती है और आध्यात्मिक पर्यावरण शुद्ध होता है।

मन, वचन और कर्म से कोई सम्पति बिना आज्ञा के न ग्रहण करना और न ही देना अस्तेय या अचौर्य है। बिना अनुमति के एक तिनका उठाना भी चोरी है। व्यक्ति द्वारा वनों सश्की अवैध कटाई एवं चोरी, अभ्यारण्यों में बाघ, हिरण, हाथी आदि पशुओं का शिकार, दूषित गैस उत्सर्जन, आधुनिक उपकरण एवं वाहनों का उपयोग, खाद्य सामग्री में मिलावट, कम तौलना, रिश्वत लेना–देना चोर कर्म है। अचौर्यव्रत पालन से समाज और देश में व्याप्त आर्थिक प्रदूषण से रक्षा सम्भव है।

अतः मानव भाव ही प्रधान परिग्रह है। इसमें कमी करने से बाह्य परिग्रह कम होगा। इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने इस व्रत को इच्छा परिणाम नाम दिया है। इच्छा से ही ममत्व जुड़ा रहता है। उसी के परिणाम से परिग्रह का परिमाण किया जाता है। यदि इच्छा की सीमा न हो तो, मनुष्य की तृष्णा को संयमित करने हेतु यह व्रत होता है। बाह्य वस्तु तो मूर्च्छा उत्पन्न करने में कारण मात्र है। जो मूर्च्छावान है वही परिग्रही है चाहे उसके पास बाह्य परिग्रह कम हो या न हो। वस्तुओं के भोगोपभोग की इच्छा ही परिग्रह है और निस्पृहता अपरिग्रह है। अतः परिग्रह परिमाणव्रत का पालन करना चाहिए। इससे आवश्यकताएँ सीमित एवं प्राकृतिक संसाधनों की बचत सम्भव है। अपरिग्रह को अपनाकर न केवल मनुष्य और समाज अपितु विविध देश भी सामरिक सम्भावनाओं को समाप्त कर परमाणु विस्फोटों से पर्यावरण की रक्षा कर सकते है।

निष्कर्ष

इस प्रकार जैन धर्म में प्रतिपादित जीवन शैली हिंसादि पंच पापों के नियंत्रण की शैली है। हिंसादि पापों के विपर्याय में अहिंसा–सत्य–अचौर्य–ब्रह्मचर्य–अपरिग्रह ये पंचमहाव्रत कहे गये हैं। इन व्रतों का पूर्णतया परिपालन गृहविरत साधुजन करते है जो कि संसार शरीर–भागों से पूर्णतया विरत होते हैं। आत्म–साधना की भावना से धर्माचरण में तत्पर साधु व गृहस्थ की जीवनचर्या नियंत्रित और संतुलित हो

जाती है। उनकी चर्या की प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से प्रकृति के सन्निकट होकर पर्यावरण संतुलन या संरक्षण की पर्याय ही बन जाती है। अतः कहा जा सकता है कि जैनाचार में पंचमहाव्रतों का पर्यावरण संवर्द्धन में बहुत बड़ा योगदान है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तत्वार्थसूत्र –2/12–13
2. जैन भारती मार्च, 2000
3. आचार्य समन्तभ्रद, रत्नकाण्ड, श्रावणकार तृतीय चरित्र अधिकार गाथा सं. 15
4. भगवतीसूत्र –आराधना 1125
5. रत्नकरण्ड, श्रावकाचार 3/59
6. दशवैकलिक सूत्र 6.13
7. तत्वार्थसूत्र 7/12
8. श्रम क्या है? / प्रगति प्रकाशन : मास्को
9. महात्मा गांधी दर्शन : डॉ. दत्त धीरेन्द्र
10. उजरती श्रम और पूँजी : कार्ल मार्क्स
11. ट्रेड यूनियन एक्ट : 1926

❖◆❖